वैश्वीकरण, मुद्रा और वित्त - अनिश्चितताएं और दुविधाएं*

या.वे.रेड्डी

2006 फिक्की - आइबीए कॉन्फ्रेंस में समापन भाषण देने के लिए आमंत्रित किए जाने पर मैं सम्मानित हुआ हूं। शुरु में मैं ''वैश्विक बैंकिंगः प्रतिमानों में बदलाव'' विषय को चुनने के लिए आयोजकों की प्रशंसा करना चाहूंगा। आपकी इन चर्चाओं में पहले ही अनेक विशिष्ट वक्ता भाग ले चुके हैं और इसलिए मैं वर्तमान स्थिति में वैश्वीकरण के मुद्दों की व्यापक रुप में समीक्षा करना चाहूंगा। मेरे भाषण का विषय है ''वैश्वीकरण, मुद्रा और वित्त - अनिश्चितताएं अैर दुविधाएं''। ये विचारों के रुप में हैं - ताकि वे सोचने के लिए प्रेरित कर सकें, न कि उत्तर देने या व्यवहार में अपनाने की शिक्षा देने के लिए।

वैश्वीकरण - क्या इस पर पुनर्विचार हो रहा है?

हाल के वर्षों में लगता है कि वैश्वीकरण से जुड़ी लागतों और लाभों का पुनः आकलन किया जा रहा है। पहले ही उदीयमान देशों के विश्व निर्यातों का अंश 1970 के 20 प्रतिशत से बढ़कर 43 प्रतिशत हो गया है। उदीयमान अर्थव्यवस्थाओं में घरेलू संरचनागत सुधार घरेलू मांगों में वृद्धि कर रहे हैं और इसके बदले में वृद्धि के लिए भारी संभावनाओं की भारी अनुभूति कराने में समर्थ हुए हैं। इसलिए वे कौन से कारण हैं कि जिनसे विकसित और विकासशील दोनों ही प्रकार के देशों में इसके बारे में पुनर्विचार हो रहा है? इसके पीछे अनेक कारक काम कर रहे लगते हैं।

पहला, यह परंपरागत अभिधारणा कि पूंजी का प्रवाह पूंजी अधिशेषवाले देशों या विकसित देशों से पूंजी की कमी वाले देशों या विकासशील देशों की ओर होता है, हाल की अवधि में गलत सिद्ध हुई लगती है। आज हम इस पहेली से जूझ रहे हैं कि पूंजी की धारा पहाड़ों की ओर (उल्टी) बह रही है (प्रसाद, राजन और सुब्रामनियन, 2006) अर्थात् विकासशील देशों से विकसित देशों की ओर। विश्व का सबसे बड़ा देश अमरीका, वर्तमान में, चालू खाता घाटा में चल रहा है, जिसका काफी बड़ा भाग उभरती हुई बाजारी अर्थव्यवस्थाओं से पूंजी के निर्यात द्वारा वित्तपोषित किया जा रहा है।

इसके अलावा, स्पष्टतः वित्तीय विकास का स्तर पूंजी प्रवाहों की दिशा का स्वतः निर्धारण करता हुआ-सा नहीं लग रहा है। प्रसाद तथा अन्य यह तर्क देते हैं कि यह विशेषता मुख्य रूप से तुलनात्मक रूप में निम्न वित्तीय विकास के संदर्भ में विकासशील देशों की सीमित खपत की क्षमता को दर्शाती है। तथापि इस व्याख्या/ स्पष्टीकरण को पलट कर भी विचार किया जा सकता है। अमरीका जिसके पास शायद सबसे ज्यादा विकसित वित्तीय प्रणाली है, वर्तमान में पूंजी का आयात कर रहा है। जैसे ही विकासशील देश अपनी वित्तीय प्रणालियों में उन्नयन और गहनता की दृष्टि से वह स्थिति प्राप्त कर लेंगे तो क्या पूंजी प्रवाह की प्रवृत्ति बदल जाएगी और कैसे? इस बीच की अवधि में विकासशील देशों से विकसित देशों की ओर पूंजी के निर्यात ने वैश्विक वृद्धि को निःसंदेह पुनर्जीवन दिया है। परंतु क्या यह प्रवृत्ति जारी रहेगी या रह सकती है?

दूसरे, वैश्वीकृत होती हुई दुनिया में लगता है नीति निर्माताओं को नई वास्तविकताओं का सामना करना पड़ा है और कभी-कभी इन्हें पूर्णतः समझना कठिन रहा है। एक रुप में, वह संदर्भ जिसमें मौद्रिक नीति बनाई जाती है, असंभावित तीहरी चुनौतियों की ओर ले जाता है - स्वतंत्र मौद्रिक नीति, मुक्त पूंजी खाता तथा प्रबंधित विदेशी मुद्रा विनिमय दर। सिद्धांत यह कहते हैं कि सर्वोत्तम रुप में, इन तीनों में से केवल दो व्यावहारिक होंगे। तथापि व्यवहार में, इनकी वरीयता में बदलाव है, जो केंद्रीय समाधान से वित्तीय असंतुलन की ओर ले जाती है। वर्तमान में, तत्काल समाधान जिन्हें पहले माना जाता था - अब उत्तरोत्तर प्रासंगिक होते जा रहे हैं । इसके अलावा, व्यापार और वित्तीय समेकन के बीच अंतरों को मानते हुए - जिसको सर्वप्रथम जगदीश भगवती ने संकेत किया था - आज एकांगी समाधानों के बारे में पहले के मुकाबले कम निश्चितता है।

तीसरे, व्यावहारिक स्तर पर, हाल का अनुभव यह संकेत करता हुआ-सा लगता है कि वैश्वीकरण ने इन संभावित टकरावों को बल प्रदान किया है जो हमारे समाज के ताने-बाने को प्रभावित कर सकते हैं। निम्न लागत का लाभ लेने के लिए निम्न मजदूरी वाले देशों की ओर बाहर से काम करने की प्रवृत्ति (आउटसोर्सिंग) ने विकसित देशों के श्रम बाजारों में बेचैनी पैदा कर दी है विशेषकर विपणन-योग्य सेवाओं के दक्षता/कौशल वाले घटक में, जिसे विदेशी प्रतिस्पर्धा को ज्यादा झेलना पड़ा है। श्रमिकों के साथ सौदेबाजी को साधन बनाकर उत्पादन आधार के भौगोलिक विभाजन का उपयोग उत्तरोत्तर रुप में बड़ी फर्मों द्वारा किया गया है। विकासशील

* डॉ.या.वे.रेड्डी, गवर्नर, भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा 28 सितंबर 2006 को मुंबई में एफआइसीसीआइ-आइबीए कॉन्फ्रेंस में दिया गया समापन व्याख्यान ।

तथा उदीयमान देशों से बढ़े हुए आप्रवासन ने उन्नत अर्थव्यवस्थाओं में मजदूरी को दबा दिया है और सामाजिक चिंताओं को बढ़ा दिया है। हाल के वर्षों में आवास बाजारों के मंद पड़ने के विपरीत प्रभाव भी वैश्वीकरण के विरुद्ध और दबाव बना रहे हैं।

चौथे, अंतरराष्ट्रीय व्यापार के नियमों और विनियमनों में अंतरालों के बारे में व्यापक चिंताएं हैं, बहुराष्ट्रीय व्यापार वार्ताओं में आया गतिरोध और उसके फलस्वरुप क्षेत्रीय और द्विपक्षीय व्यापार व्यवस्थाओं की बढ़ती हुई संख्या जो उन नीतिगत उपायों के उपयोग को ही नकार सकती हैं जिनके कारण आज की परिपक्व अर्थव्यवस्थाओं का विकास हुआ और बाद में उनका औद्योगिकीकरण।

पांचवें, मौद्रिक और वित्तीय संबंधों में वैश्वीकरण की तेज गति के साथ-साथ अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संरचना का विकास नहीं हुआ है। भुगतान की कठिनाइयों को झेल रहे देशों को इन कठिनाइयों से निपटने में समर्थ बनाने के लिए चलनिधि का प्रावधान औचित्य से अपर्याप्त रहा है। वित्तीय संकटों का प्रबंधन करना अधिकांशतः राष्ट्रीय दायित्व रह गया है। जैसा कि अंकटाड की व्यापार और विकास रिपोर्ट 2006 ने उल्लेख किया है - '' बाह्य असंतुलनों के मामले में अधिकांश समायोजनों का संकेंद्रण अकसर विकासशील और संक्रमणशील अर्थव्यवस्था के समूह पर रहा है, इस तथ्य के बावजूद कि इन असंतुलनों के स्रोत विकसित विश्व में रहे हैं।'' (पृष्ठ 38-39)। ऐसा लगता है कि इसने उदीयमान देशों में विदेशी मुद्रा भंडार के संचयन को उकसाया है।

इन गतिविधियों के चलते वैश्वीकरण से जुड़ी कीमतों के प्रति बढ़ी हुई संवेदनाओं की अभिव्यक्ति बढ़ रही है। अंतिम विश्लेषण में, वैश्वीकरण की कीमतों और लाभों के प्रबंधन में सार्वजनिक नीति की महत्वपूर्ण भूमिका है। जब तक अच्छा चलता है तो सार्वजनिक नीति को विरोध के साथ देखा जाता है, परंतु प्रतिकूल परिस्थितियों में सार्वजनिक नीतिगत हस्तक्षेप की मांग केवल समाधान के रुप में की जाती है। तदनुसार यह सार्वजनिक नीति ही है जिसके पास वैश्वीकरण के लाभों को सुरक्षित बनाए रखने तथा यह सुनिश्चित करने का सर्वोत्तम अवसर है कि इनके व्यापक रूप में सभी भागीदार बनें ताकि मुक्त व्यापार के लिए समर्थन बनाए रखा जा सके और संरक्षणवाद को समाप्त किया जा सके जिसके द्वारा वैश्वीकरण को लोकप्रिय वैधता के साथ रखा जा सके जिसकी कि वर्तमान में कभी-कभी कमी लगती है। ''वैश्वीकरण को काम करने देने'' के लिए तैयार करना नीति निर्माताओं के लिए चुनौती है ताकि वैश्वीकरण के लाभ पर्याप्त रूप में सभी के द्वारा उठाए जाएं तथा उल्लेखनीय रुप से वे उससे जुड़ी कीमतों से ज्यादा रहें। अध्यक्ष बर्नान्के (2006) के शब्दों में : ''वैश्विक आर्थिक समेकन में और आगे प्रगति को गारंटीशुदा नहीं मान लेना चाहिए जैसा कि भूतकाल में हुआ, खुलेपन का सामाजिक और राजनैतिक विरोध मजबूत हो सकता है, इसका काफी भाग इसलिए उठता है क्योंकि उत्पादन के स्वरुपों में परिवर्तन कुछ श्रमिकों की रोजी के लिए खतरा बन सकते हैं और कुछ फर्मों के लिए लाभों के अवसर ... इससे प्रभावित होनेवाले की स्वाभाविक प्रतिक्रिया इस परिवर्तन का विरोध करने की होगी, यथा संरक्षणवादी उपायों को पारित करने की मांग को लेकर।''

वैश्वीकरण और मौद्रिक नीति

जहां उत्पाद और रोजगार से संबंधित विचार (मुद्दे) मौद्रिक प्राधिकारियों को इतने ही महत्वपूर्ण रहेंगे जितने की मूल्यस्थिरता को बनाए रखना, विशेषकर विकासशील देशों में, वहीं घरेलू मुद्रास्फीति उत्तरोत्तर घरेलू उत्पाद अंतराल के प्रति कम संवेदनशील और उल्लेखनीय रुप से विश्व उत्पाद अंतराल के प्रति अधिक संवेदनशील हो गई है। अतः प्रत्येक देश के लिए यह आवश्यक है कि वह पूंजी के मुक्त प्रवाह, मुक्त रुप से सचल विदेशी मुद्रा विनिमय दर, तथा स्वतंत्र मौद्रिक नीति के इन तीहरे उद्देश्यों के प्रति समूचा दृष्टिकोण अपनाए। व्यावहारिक नीति के स्तर पर इन तीनों को अविश्वसनीय और कठिन माना जा सकता है, परंतु उन मध्यवर्ती समाधानों द्वारा जो देश विशेष की परिस्थितियों में अपनाए जाते हैं, ये प्रबंधनीय हैं। मौद्रिक प्राधिकारियों के लिए ये नई वास्तविकताएं शायद एक अनिश्चित भविष्य में अनजान चुनौतियां उपलब्ध कराएं, जो नीति निर्माताओं के लिए दुविधा को रेखांकित करती हैं।

केंद्रीय बैंक मूल्यों के स्तर की अपेक्षा मुद्रास्फीति की स्थिरता/उद्वेगशीलता से चिंतित होते हैं। तथापि बढ़ते हुए पण्य मूल्यों तथा उच्च आस्तिमूल्यों के परिवेश में निम्न उपभोक्ता मूल्यों के चलते मुद्रास्फीति के प्रसंस्करण अत्यधिक अस्पष्ट हो गए हैं। इन अनिश्चितताओं के बीच केंद्रीय बैंकों से मुद्रास्फीति की संख्या से भिन्न के रुप में मुद्रास्फीतिगत धारणाओं तथा मुद्रास्फीतिगत अपेक्षाओं की महत्ता को पहचानने की आवश्यकता से रुबरु होना पड़ता है। मुद्रास्फीतिगत नीति के संदर्भ में मुद्रास्फीतिगत अपेक्षाओं और मुद्रास्फीतिगत धारणाओं के बीच का अंतर ध्यान में रखने योग्य है। नीतिगत दरों में परिवर्तन के बाद अकसर, वास्तविक ब्याज दरों में वस्तुतः परिवर्तन होने की तुलना में प्रत्याशित परिवर्तन हो जाते हैं जो आर्थिक एजेंटों की कार्रवाई को प्रेरित करते हैं। इस प्रकार नीतिगत दरों पर निर्णय लेने की बजाए मुद्रास्फीति की प्रत्याशाओं को नियंत्रित करने की योग्यता अब मौद्रिक नीति निर्माण के लिए बुनियादी रुप से महत्वपूर्ण हो जाती है। इस प्रकार परंपरागत सरणियों की तुलना में बाजार और आर्थिक एजेंटों के साथ विश्वसनीय संप्रेषण एवं रचनात्मक संबद्धता मौद्रिक संप्रेषण की महत्वपूर्ण सरणी के रुप में उभरी है।

वित्तीय प्रणाली के घटकों में नियंत्रित ब्याज दरों की उपस्थिति नीतिगत दरों में परिवर्तनों के क्रम में वास्तविक दरों में उपयुक्त समायोजनों को बनाए रख सकेगी। तथापि, आश्चर्यजनक यह है कि वित्तीय बाजार दरें इस प्रकार के अभेद्य व्यवहार को भी दर्शाती हैं। वित्तीय बाजारों में हाल की 'पहेली' ग्रीनस्पन के अनुसार ध्यान देने योग्य हैं। इसके परिणामस्वरूप

वित्तीय बाजारों में दीर्घावधिक वास्तविक ब्याज दरें बदल गई हैं, परंतु अपेक्षित दिशा में नहीं, जो बाजार आधारित प्रणाली में भी मौद्रिक नीति की प्रभावशीलता के लिए चुनौतियां खड़ी करती हैं। अतः न केवल वास्तविक ब्याज दरों में परिवर्तन, बल्कि नीतिगत दरों में परिवर्तनों के बाद परिवर्तन की दिशा भी मौद्रिक नीति की प्रभावशीलता के लिए महत्वपूर्ण है।

तुलनात्मक रुप से एक अधिक स्थिर आर्थिक परिवेश में नीतिसंबंधी हस्तक्षेपों की जरूरत, उसकी मात्रा और अवधि कम से कम होती जाती है। केंद्रीय बैंक अब छोटे-छोटे और कभी-कभी अधिक बारम्बारता के साथ कदम उठा रहे हैं और अन्य अवसरों पर काफी लंबे अंतरालों के बाद तथा दोनों दिशाओं में, जो उनकी प्रतिक्रिया में आर्थिक गतिविधियों के समुंदर में बड़ी-बड़ी लहरों की अपेक्षा छोटी-मोटी हलचल-सी लगती हैं। उदाहरण के लिए, वर्तमान अवधि में, जो ब्याज की तटस्थ दर' मानी जाती है, वह कई सालों पहले की तुलना में काफी निम्न लगती है। यहां महत्व का मुद्दा यह है कि उभरती बाजारी अर्थव्यवस्थाओं में 'तटस्थ दर' जो कि वैश्विक दरों के साथ-साथ नीचे आती- जाती रही है, क्या विकसित अर्थव्यवस्थाओं की दरों से काफी उच्चतर होने की प्रवृत्ति रखेंगी ? यदि हां, तो कितनी ऊंची होना ठीक होंगी?

एक मामूली-सी भी मुद्रास्फीति की दर उत्तरोत्तर खुली होती हुई अर्थव्यवस्था के ढांचे में एक दुविधा पैदा कर देती है। तथापि यदि किसी अर्थव्यवस्था की घरेलू मुद्रास्फीति की दर, चाहे वह कितनी भी निम्न क्यों न हो, उसके व्यापारिक सहभागियों की औसत मुद्रास्फीति की दर से उच्च है तो वह विनिमय दर पर दबाव डाल देती है। इस संदर्भ में, बाह्य और आंतरिक क्षेत्रों के बीच समानांतर रूप से संतुलन बनाए रखने का प्रश्न मुख्य मुद्दा बन जाता है। मौद्रिक नीति के संचालन में अनिवार्यतः घरेलू और वैश्विक कारकों को दिए गए तुलनात्मक भारांक पर सावधानीपूर्वक निर्णय लेना तथा विकसित होती हुई परिस्थितियों की प्रतिक्रिया में इनका लगातार पुनर्आकलन करना भी शामिल है।

गतिशील परिस्थिति में जब वित्तीय बाजार निरंतर विकसित हो रहे हों तथा भुगतान प्रणालियां और प्रौद्योगिकी तेजी से बदल रही हो, को मौद्रिक नियमों में स्थिरता के स्पष्ट साक्ष्य और तत्काल के लक्ष्यों को नहीं देखा जा सकता। ऐसी परिस्थितियों में मौद्रिक प्राधिकारी एक मैन्यू या जांच सूची' दृष्टिकोण का अनुसरण करते हुए सभी प्रासंगिक संकेतकों को देखने के लिए बाध्य कर दिए जाते हैं। आसपास के वातावरण के शोरशराबे में खबरों को छांटना मौद्रिक नीति के संचालन के लिए एक निरंतर बनी रहनी वाली दुविधा है।

चूंकि उभरती अर्थव्यवस्थाओं में बाह्य पूंजी के आगमों का आसानी से पूर्व-अनुमान नहीं लगाया जा सकता तथा सुदृढ़ बुनियादी तत्वों के रहते हुए भी वह प्रत्यावर्तित हो सकती है, मौद्रिक प्राधिकारियों को प्रायः विनिमय दर और मौद्रिक प्रबंधन के संबंध में चुनाव करने पड़ते हैं। मौद्रिक नीति का उपयुक्त प्रबंधन, मौद्रिक प्राधिकारियों से विदेशी मुद्रा बाजार के परिचालनों के प्रभावों को पूर्णतः या आंशिक रूप से समंजित करने की अपेक्षा करता है ताकि मौद्रिक नीति की प्रासंगिकता बनी रहे। मौद्रिक प्राधिकारी को यह निर्णय करना होता है कि इन प्रभावों को किस सीमा तक समंजित किया जाए तथा इस समंजन के साधन क्या हों? बाजार आधारित या गैर बाजार आधारित या इन दोनों का मिश्रण ।

वित्तीय स्थिरता का प्रश्न अन्य विवेकसम्मत उपायों के साथ-साथ ब्याज दर के साधन का भी उपयोग करने की अपेक्षा कर सकता है । कभी-कभी बढ़ती हुई ब्याज दरों और विवेकसम्मत मानदंडों को कठोर करने के बीच परस्पर किया-प्रतिक्रिया भी हो सकती है यदि जोखिमों के बाजार के कुछ घटकों से उभरने की प्रत्याशा हो। आस्ति मूल्यों में आई तीव्र तेजी की पृष्ठभूमि में अत्यधिक बढ़े हुए उधार परिचालनों में उधार देने के मार्जिनों में तथा जोखिम आधारित पूंजीगत अपेक्षाओं में समायोजन की अपेक्षा हो सकती है। इस संबंध में एक मुद्दा वह सीमा है जिस तक इन्हें पूर्ववर्ती चुनिंदा ऋण नियंत्रण के अनुरुप माना जाना चाहिए।

वैश्वीकरण और वित्तीय क्षेत्र

अंतरराष्ट्रीय वित्तीय बाजार में वर्तमान में निजी इक्विटी निधियों जैसे हेज फंडों की प्रधानता है जो ज्यादातर 'अपने ग्राहक को जानिए/अपने निवेशक को जानिए' (केवाईसी/केवाईआई) मानदंडों से बाहर पड़ते हैं। हेज़ फंडों की काफी समय से उपयोग में लाई गई व्यवस्थाएं हैं जो उन्हें अनेक व्यापारियों से व्यापार करने की अनुमति देते हैं। परंतु अब उनकी ओर से यह प्रवृत्ति बढ़ रही है कि वे अपने व्यापार को समाशोधन और निपटान एक फर्म ''प्राइम ब्रोकर'' में समेकित करें। प्राइम ब्रोकरेज (दलाली) प्रतिपक्षी पार्टी के ऋण तथा परिचालन जोखिम के प्रबंधन के संबंध में कुछ अनोखी चुनौतियां खड़ी करती है।

वैश्विक स्तर पर यह आम तौर पर देखा गया है कि हेज़ फंड 'अपारदर्शी' (ओपेक) होते हैं अर्थात् उनके संविभागों के बारे में सूचना विशेषतः सीमित होती है और वह बहुत कम अवसरों पर दी जाती है। किसी फंड के बारे में दी गई सूचना भी इस पर बहुत कुछ निर्भर और भिन्न-भिन्न होती है कि सूचना प्राप्तकर्ता कोई निदेशक है या प्रतिपक्षी पार्टी, कोई विनियामक प्राधिकारी है या सामान्य बाजार सहभागी। नीति की दृष्टि से, निवेशकों को पारदर्शिता मुख्यतः निवेशकों के संरक्षण के लिए हैं जोकि बदले में निदेशकों के स्वरूप पर निर्भर करती है। प्रतिपक्षियों के लिए पर्याप्त सूचना की आवश्यकता जोखिम प्रबंधन का मुद्दा है। हेज फंडों की अपर्याप्तता तथा संभावित चलनिधि जोखिम ने विनियामक प्राधिकारियों के लिए अनेक प्रस्तावों की ओर प्रेरित किया है कि वे हेज फंडों की स्थितियों के बारे में डाटा आधार बनाएं और उसे बनाए रखें।

ओवर दि काउंटर (ओटीसी) व्युत्पन्नी लिखतों के नए प्रकारों विशेषकर ऋण व्युत्पन्नी लिखतों के लेनदेन की व्यवस्था से जुड़ी कुछ अनिश्चितताएं

हैं। हाल ही की वित्तीय नवोन्मेषों के एक भाग के रुप में ऋण व्युत्पन्नी लिखत तथा सांचागत ऋण बाजार पिछले कुछ सालों में तेजी से बढ़े हैं जो वित्तीय खिलाड़ियों द्वारा ऋण जोखिम को फैलने की अनुमति देते हैं। शायद, यह आवश्यक है कि ऋण जोखिम के घटक का आकार और उसकी संरचना जोखिम अंतरणों की मात्रा और दिशा का और इसलिए अर्थव्यवस्था के अंतर्गत जोखिम के वितरण के लिए पता लगाने के लिए प्रक्रिया-तंत्र विकसित किया जाए।

हाल के वर्षों में, बहुपक्षीय (बहुराष्ट्रीय) स्तर पर वित्तीय संकटों को रोकने तथा उनका समाधान करने के लिए संस्थागत प्रक्रिया-तंत्र के होने को महत्ता मिली है। इस प्रश्न पर कि क्या अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संरचना ऐसी स्थिति में है जो यदि कोई देश समस्या में हो तो वह उसे सुभीता दे सके, इसके चार पहलू हैं। पहला, 1997 से निस्संदेह आज विश्व की जिजीविषा और विशेषकर निजी पूंजी बाजारों की ऊर्जस्विता में भारी सुधार हुआ है। व्यापार, आर्थिक नीतियां, और अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं के दृष्टिकोणों और बाजारों की ऊर्जस्विता में सुधार हुआ है। दूसरे, परिमाण की दृष्टि से भी निधियों के आधिकारिक/द्विपक्षीय प्रवाह - हैं, ऐसे प्रवाहों की खास प्रवृत्ति व्यापक सामाजिक प्रतिलाभों से प्रेरित होती है जो निजी प्रवाहों में उन्हें शक्ति प्रदान करती है। तीसरे, जैसा कि हम जानते हैं, जोखिम कभी समाप्त नहीं होते हैं, परंतु केवल कम किए जाते हैं। विद्यमान अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संरचना वित्तीय संकटों के घरेलू या बाह्य प्रभावों को रोकने या कम करने के लिए पर्याप्त नहीं है, विशेषकर चीन और भारत जैसी बड़ी अर्थव्यवस्थाओं के संदर्भ में । चौथे, संकट के समय अस्थिरता के प्रभाव को व्यापक रूप में देश के या घरेलू सार्वजनिक क्षेत्र को वहन करना होगा, न कि वैश्विक निजी क्षेत्र को । ऐसी स्थिति में संकट से बचाव अंततः राष्ट्रीय उत्तरदायित्व है। नीति निर्माताओं को अकसर, प्रतिस्पर्धी स्थितियों से निपटना होता है तथा उन्हें भयानक दुविधाओं के बीच से विकल्पों का चयन करना होता है।

निष्कर्षात्मक टिप्पणियां

विश्व अर्थव्यवस्था के हाल ही के सर्वेक्षण में, दि इकानामिस्ट (16 सितंबर 2006) ने यह पूर्वानुमान लगाया है कि उदीयमान अर्थव्यवस्थाएं विश्व अर्थव्यवस्था को औद्योगिक क्रांति के बाद से सबसे बड़ी प्रेरणा देने वाली हैं। उत्पादन और व्यापार की वैश्विक प्रणाली में महत्तर समेकन जो ऊर्जस्वित पूंजी के आगमों से समर्थित है, वृद्धि दरों की दृष्टि से उदीयमान और विकसित देशों के बीच व्यापक होती हुई खाई को प्रेरित कर रही है। क्रयशक्ति समानता की दृष्टि से विश्व सघउ में अपनी पहले से ही अवधि से ज्यादा के अपने भाग को बढ़ाकर वे 20 वर्षों में वैश्विक उत्पाद के दो तिहाई कर लेंगे। ब्रिटेन और अमरीका को जब वे औद्योगिकीकरण कर रहे थे अपनी वास्तविक आय को दुगुना करने में उन्नीसवीं शताब्दी में 50 वर्ष लगे। चीन वही प्रगति नौ वर्षों में प्राप्त कर रहा है। अगले दशक में लगभग एक बिलियन (दस करोड़) नए ग्राहक वैश्विक बाजार में प्रवेश करगें जो सारे विश्व को आर्थिक गतिविधियां बढ़ाने के लिए दीर्घकाल तक प्रेरणा प्रदान करते रहेंगे।

पूरी विनम्रता के साथ, यह मानना होगा कि बढ़ती हुई आर्थिक वृद्धि के बावजूद विकासशील देशों में वास्तविक प्रति व्यक्ति आय और इसलिए वहां का रहन-सहन का स्तर विकसित देशों की तुलना में काफी कम है। जैसा कि गोल्डमेन और सेच की बिक्र (बीआरआईसी) रिपोर्ट (2003) ने बड़ी सोच समझकर यह पूर्वानुमान लगाया है कि अमरीका में औसत प्रति व्यक्ति आय 2040 में भी चीन के मुकाबले तीन या चार गुनी ज्यादा होगी। आइएमएफ ने अनुमान लगाया है कि यदि भारत की तुलनात्मक प्रति व्यक्ति आय 2 प्रतिशत के नीचे के स्तर पर बढ़ती है तो इसे विकसित देशों मे प्रति व्यक्ति आय के लगभग आधे स्तरों तक पहुंचने में भी 100 वर्ष लग जाएंगे। यदि भारत की प्रति व्यक्ति आय वास्तविक दृष्टि से 3 प्रतिशत की दर से बढ़ती है तो भी इसे आधा अंतराल पाटने के लिए 69 वर्ष लग जाएंगे। इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण यह है कि तेज गति की वृद्धि से भी गरीबी स्वतः समाप्त नहीं हो जाएगी। यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह वृद्धि कैसे समाविष्ट होती है तथा वैश्वीकरण के लाभ कैसे बांटे जाते हैं।

इस बात की पूरी संभावना है कि भविष्य में कुछ भारी क्रांतिकारी सोच पैदा होगी, शायद मौद्रिक नीति के परिचालनात्मक और संस्थागत ढांचे में विकास की नई दिशाएं खोजी जाएं। अब तक यह दावा किया गया है कि उदीयमान अर्थव्यवस्थाओं ने मौद्रिक प्राधिकारियों के कार्य को पहले की अपेक्षा काफी आसान बना दिया है - मुद्रास्फीति को कम करके - पण्य मूल्यों और वेतन दोनों स्तरों पर - और वस्तुतः उसने मौद्रिक नीति को विश्वसनीय प्रदान की है, तो भी यह प्रश्न जो अकसर पूछा जाता है कि क्या उदीयमान अर्थव्यवस्थाओं ने विकसित देशों में केंद्रीय बैंकों द्वारा ब्याज दरों को अत्यधिक निम्न स्तरों पर रखने में सुविधा प्रदान की है। परिणामस्वरूप निर्मित चलनिधि के चलते बढ़ी हुई आस्ति कीमतें और बढ़ती हुई उपभोक्ता ऋणग्रस्तता क्या भविष्य का दुखद पहलू है? बौद्धिक भवन जिस पर मौद्रिक नीति आधारित है, सकल मांग के प्रबंधन से बंधा है। परंतु वैश्वीकरण से उभरते हुए आपूर्ति आयात बहुत ज्यादा भिन्न वृद्धि-मुद्रास्फीति के परिणाम पैदा कर सकते हैं; जिसका प्रबंधन करने के लिए स्वयं मौद्रिक नीति पूर्णतः तैयार नहीं है। वस्तुतः इस संदर्भ में एक प्रश्न जो पूछा गया है वह है - कि क्या मौद्रिक नीति के उद्देश्य के रुप में मूल्य स्थिरता बनाए रखना अपने आप में पर्याप्त उद्देश्य है, और यह कितना अलंघनीय होगा जब उदाहरण के लिए केंद्रीय बैंकों को वित्तीय असंतुलनों से संघर्ष करना पड़े, भले ही इसके लिए मुद्रास्फीतिगत लक्ष्यों से भी आगे जाना पड़े।

एफआइसीसीआइ-आइबीए सेमिनार में यदि मैं वैश्वीकरण के संदर्भ में भारत में वास्तविक क्षेत्र और वित्तीय क्षेत्रों के बीच के संबंधों पर चर्चा नहीं करुं तो यह मेरी भूल होगी। अर्थशास्त्रियों से काफी पहले से वास्तविक और वित्तीय क्षेत्रों के बीच एक दूसरे की गहरी अनुपूरकताओं को स्वीकार कर लिया था। वित्तीय विकास या तो आपूर्ति नेतृत्व के रूप में या मांग अनुवर्ती के रूप मे वृद्धि में योगदान करता है अर्थात या तो वित्तीय क्षेत्र का विकास वृद्धि के लिए परिस्थितियां पैदा करता है या वृद्धि वित्तीय सेवाओं के लिए मांग उत्पन्न करती हैं। यह मानना महत्वपूर्ण होगा कि भारत में वित्तीय क्षेत्र अब वृद्धि के लिए बाधक नहीं है, और इसकी शक्ति और ऊर्जस्विता को मान्य किया गया है , हालांकि इसमें सुधार किए जाने की जरूरत है। दूसरी ओर भौतिक बुनियादी संरचना तथा आपूर्ति लोच की दृष्टि से वास्तविक क्षेत्र के विकास के बिना वित्तीय क्षेत्र संसाधनों को गलत रूप से आबंटित कर सकता है, अर्थव्यवस्था में फर्जी वृद्धि के बुलबुले उठा सकता है, और संभवतः जोखिमों को कई गुणा कर सकता है। अतः सार्वजनिक नीति को वास्तविक और वित्तीय दोनों क्षेत्रों में संतुलित सुधार सुनिश्चित करने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभानी हो सकती है। नीति निर्माताओं के लिए महत्वपूर्ण केवल यह सुनिश्चित करना नहीं है कि वास्तविक क्षेत्र के लिए वित्तीय क्षेत्र को कोई बाधाएं नहीं हैं, बल्कि यह भी सुनिश्चित करना है कि वित्तीय क्षेत्र के सुधार भारत में वास्तविक क्षेत्र में सुधार की गति और प्रक्रिया के अनुपूरक हों, साथ ही निस्संदेह राजकोषीय सशक्तीकरण का होना भी जरूरी है जैसा कि रिज़र्व बैंक द्वारा लगातार जोर दिया जा रहा है।

संदर्भ

बर्नके.बी.(2006) ग्लोबल इक्नॉमिक इन्टीग्रेशन : ह्वाट इस न्यू और ह्वाट इस नॉट? फेडरल रिज़र्व बैंक ऑफ केन्सास सिटि के 30 वे वार्षिक आर्थिक सिम्पोजियम, में टिप्पणियां - जेकसन हाल, 25, अगस्त

गोल्डमेन साचे (2003) : ड्रीमिंग विद ब्रिक्स - दि पाथ टू 2050 ''ग्लोबल इक्नॉमिक पेपर पृ.99, अक्तूबर 2003,

प्रसाद ईश्वर, राजन रघुराम तथा अरविन्द सुब्रामनियम (2006) ''पैटर्न ऑफ

इंटरनेशनल केपिटल फ्लोज एण्ड, देयर इम्प्लीकेशन्स फॉर इकानामिक डवलपमेंट ''राजन रघुरामन द्वारा'' फेडरल रिज़र्व बैंक ऑफ कन्सास सिटि, जेकसन हाल, बायोमिंग द्वारा 25 अगस्त 2006 को प्रयोजित सिम्पोजियम में प्रस्तुत आलेख ।